

मिशनरी शिक्षा : कितनी मिशनरी कितनी औपनिवेशिक ?

□ सुरेश पंडित

शिक्षा में धर्म की स्थिति और धार्मिक शिक्षा को लेकर 'शिक्षा-विमर्श' ने एक संवाद शुरू किया था। पिछले अंक में उत्तर प्रदेश के मदरसों में दी जा रही शिक्षा को लेकर वसीम अहमद के लेख का हिन्दी अनुवाद छपा था। प्रस्तुत आलेख इसी संवाद को आगे बढ़ाता है। भारत में मिशनरी शिक्षा के संक्षिप्त इतिवृत्त के साथ यह इसमें आये स्वरूपगत क्रमिक परिवर्तनों को रेखांकित करता है। लेख की निष्पत्ति यह है कि ईसाई मिशनरियों ने धर्मान्तरण में उतनी भूमिका नहीं निभायी, जितनी भारतीय शिक्षा के चरित्र को औपनिवेशिक बनाने में निभायी है और इस भूमिका में अभी भी कोई बुनियादी अन्तर दिखायी नहीं देता है।

भारत में आधुनिक शिक्षा का प्रचार-प्रसार तीन एजेंसियों द्वारा मुख्य रूप से हुआ। ये थीं - ईसाई मिशन, सरकार और निजी हैसियत से भारतीय लोग। जाहिर है शिक्षा के काम में लगने के तीनों एजेंसियों के उद्देश्य और लक्ष्य अलग-अलग थे। परन्तु सुविधा की दृष्टि से इन्हें सरकारी बरक्स प्राइवेट, देसी बरक्स पश्चिमी और साम्राज्यवादी बरक्स राष्ट्रवादी में वर्गीकृत कर लेना ठीक रहेगा। यद्यपि यहां हम विशेष रूप से अपना विमर्श क्रिश्चियन एजेंसियों के शैक्षिक अवदान तक ही सीमित रखेंगे।

पुर्तगाली लोग सबसे पहले पश्चिमी शिक्षा यहां लेकर आये और उन्होंने अपनी बस्तियों - गोआ, दमन दीव, कोचीन और हुगली-में अपने स्कूल स्थापित किये। 25 जनवरी, 1543 को उन्होंने सेंट पॉल की स्मृति में एक कालेज गोवा में खोला। मूल रूप में इसका उद्देश्य पादरियों के प्रशिक्षण को प्रोन्नत करना था। लेकिन जल्दी ही इसे दूसरे विद्यार्थियों के लिए भी खोल दिया गया। फ्रांसीसी लोगों ने भी पॉन्डीचेरी, दमन और चन्द्र नगर में कुछ प्रारंभिक विद्यालय आरंभ किये।

ये स्कूल कम से कम प्रारंभिक स्तर तक देसी भाषा में शिक्षा देते थे। धार्मिक शिक्षा का माध्यम भी देसी भाषाएं ही थीं। लेकिन 1684 की 27 जून को प्रसारित तत्कालीन वायसराय के आदेशानुसार गोआ पर पुर्तगालियों की पकड़ को मजबूत करने के लिए कोंकणी भाषा पर प्रतिबंध लगा दिया गया तथा पादरियों के प्रशिक्षकों व अन्य शिक्षकों को निर्देश दिये गये कि वे केवल औपनिवेशिक भाषाओं के माध्यम से ही शिक्षा दें ताकि धीरे-धीरे वे हर एक के बोलचाल की भाषाएं बन जायें और लोग अपनी मातृभाषा का प्रयोग करना कम से कम करते जायें।

इसका परिणाम यह हुआ कि स्थानीय पाठशालाएँ, ईसाई (पैरिश) स्कूलों में और अध्ययन केन्द्र बने मन्दिर, चर्चों में रूपान्तरित होने लगे। इन चर्च स्कूलों की व्यवस्था गांव द्वारा की जाती थी तथा अपने बच्चों को पढ़वाने के लिये वहां के लोगों को ही अध्यापकों को वेतन देना होता था।

बंबई का शैक्षिक इतिहास बताता है कि वहां भी शिक्षा ईसाई मिशनरियों के उद्योग से ही आगे बढ़ी। पुर्तगाली, फ्रेंचभाषी वहां केवल मिशनरी बन कर ही नहीं आये, उन्होंने सबसे पहले स्कूल मास्टर बनने की भूमिका भी अदा की। वास्तविकता तो यह है कि पुर्तगालियों से बंबई का अधिकार अपने हाथ में लेने के एक महिने बाद ही हम्फ्री कुक ने 3 मार्च 1665 को एक पत्र लन्दन भेजा और उसमें लिखा कि यहां की आम भाषा पुर्तगाली है। इसलिये यह जरूरी है कि यहां के नियमों व कानूनों का अनुवाद उसी भाषा में करवा दिया जाये। पुर्तगाली पादरियों (फ्रायर्स) के प्रभाव से डरकर ब्रिटिश सरकार ने अपने एक खास हुकम के तहत इन फ्रेंचभाषी पुर्तगालियों को 13 मई 1720 को बाहर निकाल फेंका और इनकी जगह इटली के पादरियों (कारमेलाइट्स) को तुरन्त प्रभाव से नियुक्त कर दिया।

इस तरह से बंबई में कैथोलिक शिक्षा का पतन शुरू हुआ। 1770 तक सभी पैरिश स्कूल बन्द हो गये। निरक्षरता जो पहले काफी कम हो गई थी अब पुनः बढ़ती दिखाई देने लगी। 1770 से 1850 के बीच कोई भी कारमेलाइट स्कूल आरंभ नहीं हुआ।

1876 में सेन्ट जेवियर स्कूल में भाषण देते हुए डॉ. डलास ने कहा - "50 के शुरूआती दशक में जब मैं बंबई पहुंचा तो मैंने देखा कि कैथोलिक लोगों की हालत बड़ी खराब है। जहां तक

उनके स्कूलों का सवाल है वे अत्यन्त दयनीय दशा में हैं । उनकी सामाजिक स्थिति इतनी गिरी हुई और अपमानजनक है कि मुझे अपना धर्म (कैथोलिक धर्म) बताते हुए भी शर्म आती है । प्रोटेस्टेन्ट स्कूलों के मुकाबले पैरिश स्कूल नुककड़ स्कूल बन गये हैं । बल्कि यों कहें कि उन्हें स्कूल कहना उचित नहीं लगता ।”

1869 में जब सेन्ट जेवियर कालेज की स्थापना हुई तब कैथोलिक समुदाय का अन्धकार से प्रकाश में अवतरण हुआ । पुर्तगाली सीमाओं के बाहर भी रोमन कैथोलिक मिशनरियों ने प्रारंभिक और माध्यमिक विद्यालय मद्रास और बंगाल में खोलने की पहल की। फिर भी 1720 से 1850 के बीच कैथोलिक मिशनों ने कोई प्रभावी कार्य करके नहीं दिखलाया ।

1814 में ईसाई समाज के प्रत्यावर्तन और जेसुइटों की भारत में वापसी ने उच्च शिक्षा के क्षेत्र में कैथोलिक शिक्षा के प्रसार को तेज किया । 1844 में नागपतनम् में सेन्ट जोसफ कालेज की स्थापना हुई । 1862 में कलकत्ता में सेन्ट जेवियर कालेज खुला । 1869 में सेन्ट जेवियर कालेज बम्बई में शुरू हुआ । 1880 में मैंगलोर में अलोयसियस कालेज और 1888 में दार्जिलिंग में सेन्ट जोसफ कालेज शुरू हुआ। कैथोलिक कालेजों की संख्या देश की स्वतंत्रता के बाद और भी तेजी से बढ़ी । 1944 में यह संख्या 30 थी जो 1948 में 38 हुई और 1967 में 76 तक जा पहुंची । लेकिन तब तक भी साक्षरता में सर्वाधिक होने के बावजूद क्रिश्चियन नवयुवक यूनिवर्सिटी स्तरीय शिक्षा में पिछड़े हुए रहे ।

कैथोलिक स्कूली शिक्षा आज भी लोगों में एक ‘क्रेज’ बनी हुई है। आश्चर्य है जो क्रिश्चियन संस्थाएँ अनाथालय के रूप में शुरू हुई थीं वे आज उच्च श्रेणी के ऐसे आवासीय स्कूलों में बदल गई हैं जिनमें गरीबों के लिए प्रवेश की कोई गुंजाइश नहीं है ।

शुरू से ही कैथोलिक शिक्षा वाली संस्थाओं के भारत में चार प्रकार रहे हैं - (1) ऐसे ऐलीमेन्ट्री ग्रामर स्कूल जो चर्चों या मिशन मुख्यालयों से जुड़े थे। (2) अनाथालय और इसी तरह की अन्य संस्थाएं जो भारतीय बच्चों को प्रारंभिक शिक्षा के साथ साथ कृषि और उद्योग संबंधी प्रशिक्षण भी देती थी। (3) सेमिनरी और धार्मिक स्थल जो पादरी बनने के इच्छुक छात्रों को धर्मशास्त्र की शिक्षा देते थे । (4) जेसूइट और दूसरे कालेज जो उच्च शिक्षा प्रदान करते थे । आज भी उनकी इसी तरह की संस्थाएं औपचारिक कैथोलिक शिक्षा दे रही हैं । यह वर्गीकरण कुछ अन्तरिम किन्तु प्रासंगिक निष्कर्ष निकालने में सहायता अवश्य करता है ।

पहला - कैथोलिक स्कूल आरंभ से ही ईसाई धर्म की शिक्षा नहीं देते थे । उनमें यह प्रवृत्ति बाद में विकसित हुई । ये मिशनरी अपने धर्म के प्रसार पर उतना बल नहीं देते थे जितना अपने समुदाय

को मजबूत करने पर देते थे । ये अन्य धर्मों के लोगों को अपने धर्म में आनेका उपदेश नहीं देते थे । बल्कि अपने ही धर्म के प्रति लोगों को आस्थावान बने रहने पर जोर देते थे ।

दूसरा - प्रारंभ में नये छात्रों को धार्मिक और प्रारंभिक शिक्षा देने के लिए इनकी शिक्षा का माध्यम देसी भाषायें थी । यद्यपि इनकी संस्थाओं का मॉडल शुरू से ही पश्चिमी था । बाद में उपनिवेशकों (कोलोनाइजर्स) की भाषा को शिक्षा शास्त्रीय कारणों से नहीं अपितु राजनैतिक कारणों से आरोपित किया गया । इस तरह पश्चिमी मॉडल के मुकाबले प्रतियोगिता में देसी शिक्षा व्यवस्था नहीं ठहर पाई और देसी भाषाएं भी कमजोर होती चली गई ।

तीसरा - स्कूल से आगे की शिक्षा आरंभ में पादरियों को उच्च शिक्षित करने के उद्देश्य से आरंभ की गई थी । लेकिन यह वहीं रुकी नहीं रही । फिर भी इसका फायदा केवल उच्च वर्गीय एवं सपन्न वर्गीय छात्रों ने ही उठाया । इसलिए हम देखते हैं कि कैथोलिकों में साक्षरता अन्य धर्म के लोगों से अधिक रही और स्कूली शिक्षा का इन्होंने भरपूर लाभ उठाया । लेकिन कॉलेज/यूनिवर्सिटी स्तरीय शिक्षा में ये पिछड़े ही रह गये ।

प्रोटेस्टेन्ट लोगों में सबसे पहले नियमित विद्यालय चलाने वाले डेनमार्क के लोग थे जो मद्रास प्रेसिडेंसी में काम करते थे । 1706 में ये लोग यहां आये और 1725 में इन्होंने गैर ईसाइयों तथा मुसलमानों के बच्चों के लिए 17 और ईसाई बच्चों के लिए 4 स्कूल चालू किये । मद्रास में ‘सोसायटी फोर दि प्रमोशन ऑफ क्रिश्चियन नोलिज’ के साथ पहला प्रोटेस्टेन्ट इंग्लिश मिशन आया और उसने मद्रास, तंजोर, कुड्डालोर, पालमकोटा और त्रिचनापल्ली में स्कूल आरंभ किये । 1798 में बप्तिस्मा संप्रदाय (बैप्टिस्ट) के लोग और 1804 में लंदन मिशनरी सोसायटी के लोग बंगाल में आये । ‘चर्च मिशनरी सोसायटी’ और ‘वेस्लेयन मिशन’ ने अपना पड़ाव सूरत, आगरा, मेरठ, कलकत्ता और त्रावणकोर में उन्नीसवीं शताब्दी में डाला ।

प्रोटेस्टेन्ट मिशनरियों के लिए रोमन कैथोलिक लोगों का उन स्थानों से वर्चस्व तोड़ना पहली आवश्यकता थी जहां वे बसे थे । लेकिन पुर्तगाली और फ्रेंच लोगों के भारत में पतन के बाद मिशनों को आसानी से महत्व मिलने लग गया । क्योंकि पहले से ही डेनिश मिशन के स्कूल तथा उसकी सहभागी अन्य संस्थाएं अपने स्कूलों को ईसाई धर्म के उपदेश फैलाने का माध्यम बना चुके थे । 1818 में डेनिश लोगों के संरक्षण में एक स्कूल सेरामपुर में ईस्ट इंडिया कम्पनी के विरोध के बावजूद खोला गया। कम्पनी का विरोध इस डर पर आधारित था कि इनकी शिक्षा पाकर युवक अधिक पतित हो जायेंगे ।

अठारहवीं सदी में भारत में प्रोटेस्टेंट मिशन की उपस्थिति बहुत छोटे रूप में हुई। ईस्ट इंडिया कंपनी ने न तो इसको समर्थन दिया और न इसका विरोध ही किया। ऐसा माना जाता है कि 1800 तक इनके स्कूलों में एक हजार से अधिक बच्चे नहीं पढ़ रहे थे। लेकिन 19 वीं सदी के पूर्वार्ध में, खास तौर पर 1835 में मैकाले के कार्यवृत्त (मिनट) लागू होने और 1837 में फारसी की जगह अंग्रेजी के दफ्तरी और दरबारी भाषा का स्थान ले लेने के बाद शिक्षा के क्षेत्र में इन मिशनरियों के कदम बड़ी तेजी से आगे बढ़े। 1844 में लॉर्ड हार्डिंग के प्रस्ताव के अनुसार सरकारी नौकरियों के लिये अंग्रेजी का ज्ञान अनिवार्य कर दिया गया।

कम्पनी के 1813 के चार्टर में मिशनरियों को चन्द्र प्रतिबन्धों के साथ काम करने की आजादी दे दी गई। बंगाल की सिविल सर्विस में कार्यरत एक अधिकारी मार्टिन रिचर्ड गब्लिन्स ने तो यहां तक कह दिया - “ये मिशनरी भारत को नवजीवन प्रदान कर रहे हैं।”

लेकिन 1854 के ‘बुडस डिस्पैच’ के बाद, उसने अन्य भारतीय एजेंसियों के हक में सरकार को शिक्षा के क्षेत्र से अपने पसरते पांवों को समेटने के लिए प्रोत्साहन देना शुरू कर दिया और 1857 के विद्रोह के बाद 19 वीं सदी के उत्तरार्ध में इस क्रिश्चियन शिक्षा ने अपना विस्तार करने की बजाय अपने को अधिक सुदृढ़ करने और गुणवत्तापूर्ण बनाने पर बल देना शुरू कर दिया। 1882 की शिक्षा आयोग की रिपोर्ट के बाद इस प्रवृत्ति को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। प्रोटेस्टेंट लोगों द्वारा संचालित मद्रास क्रिश्चियन कॉलेज, सेन्ट जॉस कालेज आगरा, सेन्ट स्टीफेंस कॉलेज दिल्ली, क्रिश्चियन मेडिकल कॉलेज लुधियाना और क्रिश्चियन मेडिकल कालेज वैल्लोर जैसी उच्च शिक्षा की संस्थाओं को गुणवत्ता की दृष्टि से ख्याति मिलना तभी से शुरू हुआ। भारतीय शिक्षा के क्षितिज पर ये अपनी शैक्षिक महत्ता के कारण ही नहीं अपने विचारों और मूल्यों के कारण भी अपनी अलग विशिष्ट पहचान बनाने में सफल हुई। 1870 में तो प्रोटेस्टेंट मिशन गंभीरता के साथ यह सोचने लगे थे कि शिक्षित भारतीयों की बौद्धिक, धार्मिक तथा राजनैतिक चेतना को प्रभावित करना उन्हें धर्मान्तरित करने का सबसे अधिक अचूक उपाय है।

एक बार पुनः ऊपर दिये गये संक्षिप्त ऐतिहासिक चित्र से कुछ निष्कर्ष निकालने की कोशिश की जा सकती है -

कैथोलिक स्कूली शिक्षा आज भी लोगों में एक ‘क्रेज’ बनी हुई है। आश्चर्य है जो क्रिश्चियन संस्थाएँ अनाथालय के रूप में शुरू हुई थीं वे आज उच्च श्रेणी के ऐसे आवासीय स्कूलों में बदल गई हैं जिनमें गरीबों के लिए प्रवेश की कोई गुंजाइश नहीं है।

पहला - कैथोलिकों की तुलना में प्रोटेस्टेंट मिशन की शिक्षा अधिक ईसाई धर्माधारित थी। यह बात उनके दूर-दूर तक स्थापित स्कूलों और कालेजों के प्रसार से साबित होती है। उन्होंने ऐसी बस्तियों तक में स्कूल खोले जहां ईसाई नहीं के बराबर थे। इस तरह की शिक्षा का उद्देश्य जाहिर है लोगों को शिक्षित करना मात्र नहीं था। वे इसके जरिये यहां के मूल निवासियों की धर्मान्तरित करना चाहते थे। कलकत्ता के स्कॉटिश चर्च कालेज के संस्थापक एलेक्जेंडर डफ, जो 1830 में भारत आये थे, का तो कहना ही यह था - “मैं एक ऐसी सुरंग यहां बिछा रहा हूँ जो कभी फटकर हिन्दू धर्म के परखचे उड़ा देगी।” स्कॉटलेण्ड की ‘फ्री चर्च मिशन सोसाइटी’ के विलियम मिलर ने यही बात कुछ परिष्कृत तरीके से कही - “हमारे ये स्कूल हिन्दू धर्म के अनुयायियों के ईसाई बनने के लिए उत्प्रेरक साबित होंगे। इनसे भारत में ईसा के आने का रास्ता साफ होगा।”

दूसरा - प्रोटेस्टेंट चर्चों तथा ब्रिटिश सरकार के बीच घनिष्ठ संपर्कों ने देसी भाषाओं की जगह अंग्रेजी को शिक्षा का माध्यम बनने में सहायता की। इसका परिणाम यह हुआ कि इसने भारतीयों को सरकारी नौकरियों में जाने की सुविधा तो दी ही, इसके जरिये ईसा के धार्मिक उपदेश और पश्चिमी मूल्य भी लोगों तक पहुंचे।

तीसरा - मात्रा और विस्तार की जगह गुणवत्ता और उत्कृष्टता की ओर झुकाव ने उच्च शिक्षा के लिए संसाधन जुटाने में बड़ी मदद की। आज भी कुछ क्रिश्चियन उच्च शिक्षा के संस्थान अपनी उत्कृष्टता का कीर्तिमान स्थापित किए हुए हैं।

मिशनरियों के अतिरिक्त अन्य एजेंसियां भी थी जो शिक्षा के प्रसार में लगी थीं। 19 वीं सदी के आरंभ से ही सरकार का भी ध्यान इस ओर बढ़ने लगा था। स्पष्ट है प्रत्येक एजेंसी का इस काम के पीछे अपना निहित एजेन्डा था। यहां हम सरकारी उद्यमों पर ही विशेष ध्यान देंगे क्योंकि ये ही सीधे और प्रभावी ढंग से मिशनरियों से टक्कर ले रहे थे।

ईस्ट इंडिया कंपनी की शिक्षा नीति के इतिहास में 1813 का ‘इंडिया एक्ट’ एक पहला किन्तु महत्वपूर्ण कदम था क्योंकि इसमें एक लाख रुपया शिक्षा पर खर्च करने के लिए मांगा गया था। पहले इस तरह के किसी खर्च के लिए कम्पनी प्रतिबद्ध नहीं थी। कम्पनी से यह अपेक्षा थी कि वह अच्छी शिक्षा देने का प्रावधान करे जिसका मतलब अनिवार्यतः अंग्रेजी माध्यम की शिक्षा था।

यह जरूरी नहीं था कि यह शिक्षा केवल उच्च वर्णों को ही दी जाये। ये शिक्षित लोग बाद में आधुनिक भारतीय भाषाओं के माध्यम से अन्य लोगों को शिक्षित करें। इस नीति ने उच्च वर्ग और उच्च जाति को ही शिक्षा के प्रति आकर्षित किया क्योंकि इसकी भी अपेक्षा यही थी। बाद में मैकाले की 'मिनट' ने 1835 में इस प्रवृत्ति को और अधिक बल प्रदान किया क्योंकि अंग्रेजी माध्यम ने देसी शिक्षण संस्थाओं को नष्ट कर दिया। 1854 के बुड्स डिस्पेच ने प्राइवेट शिक्षण संस्थाओं को अनुदान देने का प्रावधान कर सरकार को शिक्षा प्रसार से अपने हाथ खींच लेने की सुविधा प्रदान कर दी। यह अनुदान उन्हीं संस्थाओं को देय था जो सरकार की शर्तें मानती व पूरी करती थीं। तैंतीस प्रतिशत खर्चा वहन करने वाली संस्थाओं को इस नियम के तहत 67 प्रतिशत राशि सरकार से मिल जाती थी। इससे जहां सरकार पर से वित्तीय भार कम हुआ वहीं प्राइवेट एजेंसियों को इस क्षेत्र में काम करने के लिए प्रोत्साहन भी मिला।

लेकिन शिक्षण संस्थाओं की संख्या में हुई इस अपार वृद्धि ने सरकार को फिर से परेशानी में डाल दिया क्योंकि विस्तार ने गुणवत्ता को प्रभावित किया। 1917 में सर माइकल सैडलर की अध्यक्षता में बने 'कलकत्ता यूनिवर्सिटीज कमीशन' ने इस शिक्षा व्यवस्था को हर पहलू से दोषपूर्ण करार दिया।

मिशनरियों की तरह अन्य जातियों/वर्गों ने भी अपने संगठन बनाकर शिक्षा प्रसार के क्षेत्र में पदार्पण किया। इसी तरह 1882 में ब्राह्मणों ने, 1921 में ब्राह्मणेतर जातियों के लोगों ने, 1940 के दशक में अम्बेडकर के साथ दलितों ने और 1950 के दशक में आदिवासियों ने संगठन बनाकर सरकार से अनुदान मांगना शुरू कर दिया। इनके अनुदान मांगने का आधार इनकी गुणवत्ता या उपलब्धि न होकर भेदभाव रहितता तथा समानता का मुद्दा था। बाद में शिक्षा के राज्यों के अधिकार क्षेत्र में जाने पर इसका और राजनीतिकरण तथा व्यवसायीकरण होने लगा। किन्तु इन्होंने भी शिक्षण के काम को अधिक प्रभावी व उच्चतारोही नहीं बनाया बल्कि इनसे शिक्षा अधिक भेदमूलक तथा उपभोक्तावादी ही बनी।

फिर भी इस शिक्षा नीति की एक उल्लेखनीय विशेषता यह रही कि इसने धार्मिक तटस्थता को बनाये रखा। पूर्व में शिक्षा के पारंपरिक विचारों से यह बिल्कुल अलग थी और यद्यपि 1813 तथा 1833 के कम्पनी के चार्टर ने मिशनों को अधिक सुविधा प्रदान कर दी थी लेकिन सरकार ने अपना रुख नहीं बदला। 1835 में अपने विदाई सन्देश में लॉर्ड बेन्टिक ने कहा था कि सरकार छात्रों के धर्म के प्रति पूरी तरह से तटस्थ रहेगी और अपनी इस नीति का सख्ती से पालन करेगी। 1854 के डिस्पेच ने भी

सरकारी स्कूलों में किसी तरह की धार्मिक शिक्षा देने का दृढतापूर्वक निषेध कर दिया था। इस धार्मिक तटस्थता को सरकार की नैतिक मान्यता का अंग अथवा ऐतिहासिक समझ का विषय नहीं माना जा सकता बल्कि यह तो धर्म और आस्था बहुलता वाले देश भारत के लिए एक उपयोगितावादी राजनैतिक आवश्यकता थी। सभी समझदार लोग मानते थे कि सरकार को अपनी जनता के रीति रिवाजों, मान्यताओं और धार्मिक आस्थाओं में कम से कम हस्तक्षेप करना चाहिए।

यहां फिर हम कुछ फौरी एवं प्रासंगिक निष्कर्ष आगे विचार करने के लिए निकाल सकते हैं। पहला- अनेकों उदार इरादों और उत्तम आदर्शों के बावजूद सरकार की शैक्षिक नीति प्रभावी क्रियान्वयन में सफल नहीं हुई। भारतीय निजी शैक्षिक एजेंसियां यद्यपि संकुचित सांप्रदायिक पूर्वाग्रहों से प्रत्यक्षतः निर्देशित और इनमें से कुछ राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रेरणा से अनुप्रमाणित भी थी। फिर भी वे कभी इतनी मजबूत नहीं हुई कि गांधी की उस चुनौती का प्रतिरोध कर पाती जिसमें यह कहा गया था कि वे विरासत में मिली उस व्यवस्था को तोड़ डालें। यह धार्मिक तटस्थता धर्म निरपेक्षता के प्रति लगाव नहीं थी बल्कि एक राजनैतिक आवश्यकता थी।

दूसरा - नई पश्चिमी तर्ज की अंग्रेजी माध्यमवाली शिक्षण संस्थाओं ने देसी परम्परागत शिक्षा व्यवस्था को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। जिससे देसी भाषाओं में होने वाली साक्षरता के प्रसार पर भारी असर पड़ा। 1881 में जो साक्षरता प्रतिशत 4.8 था वह क्रमशः 1891 में 5.6, 1901 में 5.3, 1911 में 5.9, 1921 में 7.2 1931 में 9.5 और 1941 में 16.1 ही हो पाया।

तीसरा - यह नई शिक्षा व्यवस्था न केवल पुरानी व्यवस्था के क्षयित होने की क्षति की भरपाई नहीं कर सकी बल्कि यह स्वयं औद्योगिक और समानतावादी समाज की जरूरतों को पूरा करने में कारगर साबित नहीं हो पाई। इस उदार और तकनीकी शिक्षा का जितना प्रचार किया गया उतनी यह सही साबित नहीं हुई। लार्ड कर्जन को स्वयं यह स्वीकार करना पड़ा - 'भारत में तकनीकी शिक्षा वायसराय और गर्वनरों के भाषणों तक ही सीमित है।' संक्षेप में साक्षरता की निम्न दर, सार्वजनिक शिक्षा की उपेक्षा, तकनीकी और व्यावसायिक शिक्षा के प्रति बेरुखी और सतही शिक्षण पद्धतियां विकास के रास्ते की रुकावटें साबित हुईं।

इसके अतिरिक्त उच्च शिक्षा बहुत अधिक आभिजात्यावादी थी। इसका लक्ष्य ज्ञान का संप्रेषण था न कि उसकी निर्मिति। और वह भी विज्ञान की बजाय मानविकी के क्षेत्र में। इस तरह भारतीय शिक्षा उपनिवेशवादी तो थी ही, ब्रिटिश शिक्षा व्यवस्था का एक

परिशिष्ट या पुछल्ला भी थी। कैथोलिक या प्रोटेस्टेन्ट, सरकारी या प्राइवेट, राष्ट्रवादी या सांप्रदायिक संरक्षण के बावजूद यहां की शिक्षा बौद्धिक, सांस्कृतिक और यहां तक कि आध्यात्मिक तौर पर भी पश्चिमी अर्थात् इंग्लैण्ड की शिक्षा व्यवस्था के अधीन थी।

इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए अब शिक्षा और मिशन के अन्तर्संबन्धों पर बात करना अधिक औचित्यपूर्ण होगा। निस्सन्देह भारत में शिक्षा के प्रति मिशन का योगदान

उल्लेखनीय रहा है। जब इस क्षेत्र में कुछ ही एजेंसियां काम कर रही थीं तब इसने इस दायित्व को पूरी लगन व ईमानदारी के साथ वहन किया। देसी शिक्षा व्यवस्था प्रभावशाली लोगों के संरक्षण से वंचित थी और कंपनी/सरकार स्वयं को इस उद्यम से अलग रख रही थी। ऐसी स्थिति में यह मान लेना सही होगा कि वर्तमान अंग्रेजी शिक्षा व्यवस्था का यहां उद्गम ईसाई मिशनरियों की गतिविधियों से ही हुआ। इतना ही नहीं इन्होंने पश्चिमी शिक्षा के संस्थागत मॉडल को अंग्रेजी माध्यम के साथ यहाँ चालू किया और उसे स्थायित्व भी प्रदान किया। अपने इस प्रयास में उन्हें इतनी भारी सफलता मिली कि क्रिश्चियन स्कूलों में एडमिशन दिलाने के लिए उच्च वर्ग तथा सवर्ण जाति के लोग लालायित होने लगे। इन्होंने स्कूलों के माध्यम से ज्ञान को तो संप्रेषित किया ही पश्चिमी मूल्यों का प्रसार भी किया।

मिशन द्वारा संचालित शिक्षण संस्थायें क्रिश्चियन-उद्यम का ही एक हिस्सा थी इसलिए उनकी हकीकत यह थी कि अपनी विषयवस्तु में आधुनिक और धर्मनिरपेक्ष होते हुए भी उनकी ईसाइयत की छाप को हर कोई देख सकता था। अपने चर्चों के जरिये वे अपने उद्देश्यों को जनसाधारण तक पहुंचा रहे थे। स्कूल उनके काम में एजेन्ट की भूमिका निभा रहे थे। यदि मिशन अपने परम्परागत स्वरूप में ही यह काम करते तो वे असांप्रदायिक नहीं दिखाई दे सकते थे। इसलिए उन्होंने शिक्षा को माध्यम बनाया और धर्मनिरपेक्षता को आगे रखा। इस शिक्षा ने औपचारिक व्यवस्था को मजबूत करने में मदद की और सरकार की शिक्षा नीति का कभी अतिक्रमण नहीं किया।

आजादी के बाद इस क्रिश्चियन शिक्षा ने कोई ऐसा आदर्श

प्रस्तुत नहीं किया कि भारतीय शिक्षक उसका अनुकरण करते। ऐसा लगता है कि इस अवधि में हो रहे शैक्षिक पुनर्निर्माण की चुनौती को इन्होंने गंभीरता से नहीं लिया। विख्यात शिक्षाशास्त्री जे. पी. नायक भी इन स्कूलों के शिक्षकों को राष्ट्रीय विकास की मुख्य धारा में आकर काम करने के लिए नहीं कह पाये। इसकी जगह उन्होंने स्वाधीन भारत में इस तरह की शिक्षा के लिए तीन कर्तव्य सुझाये - (1) धर्म और विज्ञान में तालमेल बैठायें (2) अंग्रेजी के अध्यापकों का प्रावधान करें और (3) हिन्दुओं-

ईसाइयों के मध्य संभावित मुठभेड़ को रोकने का काम करें।

कलकत्ता के स्कॉटिश चर्च कालेज के संस्थापक एलेक्जेंडर डफ, जो 1830 में भारत आये थे, का तो कहना ही यह था - "मैं एक ऐसी सुरंग यहां बिछा रहा हूं जो कभी फटकर हिन्दू धर्म के परखचे उड़ा देगी।" स्कॉटलेण्ड की 'फ्री चर्च मिशन सोसाइटी' के विलियम मिलर ने यही बात कुछ परिष्कृत तरीके से कही - "हमारे ये स्कूल हिन्दू धर्म के अनुयायियों के ईसाई बनने के लिए उत्प्रेरक साबित होंगे। इनसे भारत में ईसा के आने का रास्ता साफ होगा।"

इस बात पर विचार होना चाहिये कि मिशन स्कूलों की भारत की आजादी के बाद वह सक्रियता क्यों नहीं रही जो पहले थी। स्कूलों को ईसाई शिक्षा का एजेन्ट बनाने की मिशनरियों की योजना पर बात दो पहलुओं को ध्यान में रखकर होनी चाहिए - (1) शिक्षा और बुद्धिवादियों के माध्यम से ईसाई धर्म का प्रचार (2) जनता के माध्यम से भारत में ईसाई धर्म का प्रचार। दरअसल इस तरह का विचार विमर्श 19 वीं सदी में शुरू हो चुका था और इस पर प्रोटेस्टेण्टों ने जितनी अच्छी तरह से सोच-विचार किया था उतनी अच्छी तरह कैथोलिक लोगों ने नहीं किया। बिशप न्यू

बिगिन ने एक बार कहा था कि ईसाई शिक्षा के लक्ष्य को इसलिए स्पष्ट शब्दों में परिभाषित नहीं किया जा सकता क्योंकि यह धर्मनिरपेक्ष उद्देश्यों को धर्मशास्त्रीय औचित्य प्रदर्शनों द्वारा पाने का प्रयास है। बहुत समय पहले से ईसाई मिशनरियों के लिए ईसाई शिक्षा के तीन मुख्य लक्ष्य रहे - (1) ईसाई वातावरण में ईसाईयों की शिक्षा ताकि वे अपने चर्च के अच्छे सदस्य बन सकें और एक धर्मनिरपेक्ष समाज में महत्वपूर्ण स्थान पा सकें। (2) भारतीय युवकों को अपनी सेवाएं प्रदान कर सकें। (3) भारतीय बुद्धिजीवी समुदाय से घनिष्ठ संपर्क बना सकें ताकि अपनी आस्था को उनसे स्वीकृति मिले। दूसरे शब्दों में सामुदायिक सेवा और अपने धर्म का प्रचार ये दो ही उनके मुख्य उद्देश्य थे। इनमें कैथोलिकों ने पहले पर और प्रोटेस्टेण्टों ने दूसरे पर अधिक जोर दिया यद्यपि ये सभी उद्देश्य चर्च-शिक्षा ने कभी नहीं छोड़े।

19 वीं सदी के पूर्वार्ध में एलेक्जेंडर डफ ने आक्रामकता के साथ इस बात पर जोर दिया कि अंग्रेजी शिक्षा का तेजी से प्रचार किया जाये ताकि हिन्दू धर्म को नीचा दिखाया जा सके और

धर्मान्तरण को बढ़ावा मिले । लेकिन हुआ यह कि हिन्दुओं ने अंग्रेजी शिक्षा को तो अपनाया पर ईसाई धर्म से दूरी बनाये रखी । 1972 में इलाहाबाद में हुई मिशनरी कांग्रेस ने अपनी शिक्षानीति पर पुनर्विचार किया और विलियम मिलर के इस मत का समर्थन किया कि आगे संख्या बढ़ाने की जगह लोगों के मन में ईसा के सिद्धांतों के लिये स्थान बनाने की कोशिश की जाये । इस तरह मिशनरी शिक्षा ने धर्मांतरण की बजाय ईसा मसीह के सिद्धांतों के प्रसार पर अधिक ध्यान देना शुरू किया । शिक्षित लोगों के लिए मिशन विभिन्न प्रकार की धार्मिक प्रवृत्तियों का प्रतीक बनने लगा । वे इसमें नवरूढिवाद, पुनरूत्थानवाद, वैचारिक स्वतंत्रता, तटस्थता, नास्तिकता, अज्ञेयवाद, प्रत्यक्षवाद आदि की झलक देखने लगे । इससे ईसाई विरोधी और मिशनरी विरोधी भावनाएं पनपने लगीं । इतना ही नहीं समानता और भाईचारे के मिशनरियों द्वारा प्रचारित ईसाई सिद्धांतों का उपयोग करते हुए राष्ट्रवादी भारतीयों ने औपनिवेशिक शासन का विरोध करना शुरू कर दिया । इससे मिशनरी प्रचारकों को बड़ी निराशा हुई । फिर भी टी. ई. स्लेटर जैसे व्यक्तियों ने जो भारतीयों में पैदा हो रही इस धार्मिक और राष्ट्रीय जागृति के प्रति सहानुभूतिशील थे, इसे हिन्दू इतिहास का पुनर्जागरण काल घोषित किया । स्लेटर के इस बदले हुए रुख ने ईसायत को दूसरे धर्मों के उच्चतर और श्रेष्ठतर सिद्धांतों के प्रति संवेदनशील धर्म के रूप में प्रस्तुत किया ।

फादर पी. जोहन्स तथा स्टेनले जोन्स ने इसी भावना को बल प्रदान करते हुए क्रमशः 'टू क्राइस्ट थू दि वेदान्त' तथा 'क्राइस्ट आफ दि इन्डियन रोड' नामक पुस्तकें लिखीं और प्रतिपादित किया कि कैथोलिक स्कूल और कालेज इस देश की जरूरतों के प्रति संवेदनशील रहे हैं । इसका उद्देश्य कैथोलिक बच्चों को कैथोलिक शिक्षा देना, कैथोलिक गरीबों के सामाजिक-आर्थिक स्तर को उन्नत करना, जन-जातियों तथा हरिजनों को सामाजिक-आर्थिक दृष्टि से ऊपर उठाना और अल्प शिक्षितों को रोजगारोन्मुख कौशल प्रदान करना रहा है। लेकिन इन मिशनरियों के सामने तब बड़ी दुविधा पैदा हुई जब उस राष्ट्रीय आन्दोलन से सहानुभूमि रखने या उसका विरोध करने का अवसर आया जो वास्तव में उस सरकार के विरोध में था जिसके सहारे वे अपना काम कर रहे थे । स्लेटर, जिसे मध्यमार्गी माना जाता है, अपने कांग्रेस पार्टी को दिये जाने वाले समर्थन के पीछे तीन कारण बताते हैं - (1) यह हिन्दुस्तान के लोगों को एक राष्ट्र के रूप में संगठित कर रही है, (2) यह राष्ट्र को नैतिक और राजनैतिक रूप से पुनर्जीवित कर रही है । और (3) ब्रिटेन के साथ एक न्यायाधारित और स्वस्थ राष्ट्र के रूप में जुड़ना चाहती है ।

फिर भी बहुत से विदेशी मिशनरी अपने आपको शासकीय जाति का सदस्य ही मानते रहे । उनके इस नजरिये को मध्यमार्गीयों ने सही नहीं माना । सी. एफ. एन्ड्रयूज तथा वेरियर एल्विन जैसे लोगों ने तो राजनैतिक, सांस्कृतिक रूप से अपनी एक अलग पहचान तक बनाने में सफलता प्राप्त कर ली थी । फिर भी ईसाई मिशनों और औपनिवेशिक शासन के संबंधों में दुविधा बनी ही रही ।

इस तरह हम क्रिश्चियन मिशनरियों के नजरियों में समय समय पर आये बदलावों को स्पष्ट रूप से देख सकते हैं । वे शुरू में एक धर्मोन्मादी बल्कि साम्राज्यवादी रुख धर्मान्तरण के प्रति दिखलाते हैं । बाद में अधिक उदार होते हुए ईसाई मूल्यों को प्रचारित करने तथा लोगों को मन से इन्हें ग्रहण करने के लिए तैयार करने का रास्ता अपनाते हैं । फिर भारत को ईसा की तरफ ले जाने के बजाय ईसा को भारत में लाने की कोशिश करते हैं । लेकिन अन्त में आज भी वे धार्मिक संवाद और बहुलतावाद, जो आज की अहम जरूरतें हैं, से परहेज करते हैं ।

हम पहले ही बता चुके हैं कि भारतीयों ने मिशनरी शिक्षा का इसलिए स्वागत किया क्योंकि यह उनके लिए आर्थिक लाभ के अवसर प्रदान करती थी । इसमें उनकी इस धर्म के प्रति आस्था का कोई सवाल ही नहीं था । वास्तविकता तो यह है कि वे उनके धार्मिक एजेन्डे के प्रति पहले से ही शंकालु थे । इन संस्थाओं के अन्तर्निहित इरादों को भारतीय पहले से ही जानते थे । इसलिए 1910 में इन्होंने लोगों को अपने धर्मोपदेश सीधे-सीधे देने की योजना को बाद में एक तरफ रखकर अपना चरित्र धर्म-निरेपक्ष दिखाने की भरपूर कोशिश की । जैसे-जैसे भारत में राजनैतिक जागरूकता बढ़ती गई, ब्रिटिश उच्चाधिकारियों को अंग्रेजी शिक्षा के खतरे दिखाई देने लगे । यह एक ऐसा खतरा था कि ब्रिटिश शासन स्वयं अपनी ही चलाई गई शिक्षा को लेकर ऊहापोह में पड़ गया ।

जैसे ही ईस्ट इंडिया कंपनी एक औपनिवेशिक राज्य में रूपान्तरित हुई, उसकी व्यावसायिक आवश्यकताएं राजनैतिक समाजीकरण में बदल गई । उसने अपनी शिक्षा का उद्देश्य लोगों को क्लर्क बनाना, औपनिवेशिक राज्य के कानूनों को पालने वाला बनाना तथा ब्रिटिश शासन के प्रति वफादार बनाना निश्चित कर लिया । उस शिक्षा ने ऐसी आदतें पैदा करने की कोशिश की जिससे विद्यार्थी आगे चलकर समय और स्थान के उसी तरह पाबन्द हो जायें जिस तरह फैक्टरी के कार्मिक होते हैं ।

उच्च शिक्षा में इसने जो आभिजात्य संस्कार पैदा किये उन्होंने शिक्षितों में निरक्षरों के प्रति एक संरक्षक के भाव पैदा कर

दिये । वे भाव ठीक उसी तरह के थे जैसे गोरे साहब उनके प्रति रखते थे । इन संस्कारों ने स्कूल और आम जनता के बीच एक विभाजन रेखा खींच दी ।

इस तरह उच्च सिद्धांतों के नारे लगाने के बावजूद राष्ट्रवादी लोगों ने आजादी में राजनैतिक ढांचे के बजाय आभिजात्य की अदला बदली कर ली अर्थात् शासन की कुर्सियों पर गोरे साहबों की जगह देसी कुलीन लोग जा बैठे ।

यह सवाल पूछा जा सकता है कि पिछली शताब्दी के मोड़ पर शिक्षा की ऐसी कौनसी दो भूमिकाएं थी जिन्होंने भारत के सांस्कृतिक और राजनैतिक जीवन के रूपान्तरण को सबसे अधिक प्रभावित किया । ये भूमिकाएं थी - शिक्षित लोगों में वर्गीय एकता को अधिक दृढ़ बनाना तथा परम्परागत वर्चस्ववाद को कायम रखना । पहली को खुले तौर पर स्वीकार नहीं किया जाता जबकि दूसरी को परोक्ष महत्व दिया जाता है । आज भी शिक्षा में जैसे-जैसे ऊंची कक्षाओं की ओर बढ़ते हैं वैसे-वैसे शिक्षण संस्थाओं और अध्यापकों का मान (स्टेटस) बढ़ता जाता है । इस प्रवृत्ति ने विकास की प्रक्रिया में भी आभिजात्यवाद को प्रश्रय दिया है ।

सारे देशवासियों को आगे बढ़ने के लिए समान अवसर दिये जाने की राष्ट्रवादियों की प्रतिज्ञा ने शिक्षा में विस्तार की मांग को बढ़ावा दिया, जिसे वर्ग और जाति के पक्षपात और निहित स्वार्थों ने उद्दीप्त किया । इससे शिक्षा में सेवा की भावना (मिशनरी स्पिरिट) खत्म हुई और लोगों ने इसका उपयोग अपने सांप्रदायिक या राजनैतिक लाभ के लिए करना शुरू कर दिया । समान रूप से कमजोर वर्गों के लिए शिक्षा की उपलब्धता की सामाजिक प्रतिबद्धता के निमित्त किये जाने वाले प्रवेश में आरक्षण के प्रावधान का आज भी (मेरिट) गुणवत्ता नष्ट होने के बहाने विरोध किया जाता है । और यह मेरिट भी उस परीक्षा पद्धति द्वारा निर्धारित होती है जिसके साधन प्रायः संपन्न लोगों के पास ही होते हैं । इस तरह जो शिक्षा सामाजिक रूपान्तरण के स्वप्न को पूरा करने वाली थी वह अब लोगों के ऊपर चढ़ने की सीढ़ी मात्र बनकर रह गई है ।

ब्राह्मण विरोधी और दूसरी दलित जातियों के आन्दोलन ने भारत के पश्चिमी और दक्षिणी भागों में निश्चय ही शैक्षिक आधार को थोड़ा बहुत विस्तार दिया और इसने परम्परागत वर्चस्ववादिता को तोड़ने की पहल भी की । लेकिन जल्दी ही आन्दोलनों से उपजी इस परिवर्तनकारी जागरूकता को उपयोगितावाद के जरिये निष्प्रभावी कर दिया गया और एक बाजारवादी समाज बनाने के काम की ओर इसे मोड़ दिया गया । अन्त में इसे भी अपने सांप्रदायिक लाभ के लिए नीचे बैठा दिया गया है । बाजार का उपभोक्तावादी लालच देकर इन अल्प सुविधा और लाभवंचित लोगों को पीछे धकेल दिया गया है ।

गांधी द्वारा प्रवर्तित बुनियादी तालीम के क्रान्तिकारी विकल्प को, जो स्थानीय कला-कौशल और ज्ञान को वैधता प्रदान करना चाहती थी और शिक्षा को आत्मनिर्भर बनाना चाहती थी और उसे लोगों की जिन्दगियों से जोड़ देना चाहती थी, उसे जबानी प्रशंसा देने के अलावा कुछ नहीं किया गया जिससे उसका असफल होना सुनिश्चित हो गया ।

सामाजिक समानता और आर्थिक विकास इन दो उद्देश्यों की पूर्ति शिक्षा द्वारा होनी थी लेकिन लगता है ये दोनों ही आज संकट में पड़ गये हैं । इसलिए उपरोक्त शैक्षिक विकास की समीक्षा और सामाजिक विश्लेषण से हम पहला निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि आजादी के बाद की पिछली अर्धशताब्दी में भी आजादी से पहले की व्यवस्थाओं और संरचना को जारी रखा गया है । दूसरा निष्कर्ष यह है कि यह व्यवस्था पुराने ढर्रे से चल रही है और उसी ढर्रे में इसका विस्तार होता जा रहा है । इस पुराने और नये के बीच की निरन्तरता और शुरू से मिशनरी शिक्षा का इस व्यवस्था से तादात्म्य यह आभास देता है कि भविष्य में भी मिशन शिक्षा इस व्यवस्था से अलग होकर कुछ नहीं कर पायेगी । इस सामाजिक-आर्थिक परिप्रेक्ष्य में हमें ईसाई धर्म के प्रचार के एजेन्ट के रूप में स्कूल की भूमिका के बुनियादी गतिविज्ञान को देखना होगा क्योंकि इसी से हमें पता लगेगा कि यह शिक्षितों को ईसाई बनाने में, कम सफल क्यों हुई और कैसे इसने लोगों को बुर्जुआ अधिक बनाया ।

मिशनरी शिक्षा का भारतीय इतिहास इस बात को स्पष्ट रूप से रेखांकित करता है कि लोगों को ईसाई बनाने के अपने मूल उद्देश्य में यह बहुत अधिक सफल नहीं हुई । हाँ, ईसाइयों को शिक्षित बनाने में इसने अवश्य महत्वपूर्ण भूमिका अदा की । इसकी शिक्षण संस्थायें अपने अनुशासन विशिष्ट आचरण और उत्कृष्ट शिक्षण की वजह से सम्माननीय तो अवश्य बनी रहीं किन्तु इन्होंने अपने छात्रों में एक ऐसी उच्चता ग्रन्थि विकसित की जिससे वे राष्ट्रवादी तो बने ही नहीं, आम लोगों में घुल मिलकर रहने से भी उन्होंने परहेज किया । अपने अंग्रेजी माध्यम और पश्चिमी आचार विचार के कारण ये संस्थायें ब्रिटिश हकूमत की आँखों का तारा तो बनी ही रही, आजादी के बाद भी यथास्थिति की पोषक होने के कारण राष्ट्रीय सरकारों ने इनमें किसी तरह का बदलाव लाने की कोई आवश्यकता महसूस नहीं की । आश्चर्य है क्लर्क और वफादार सेवक बनाने के उद्देश्य सामने रखकर बनायी गयी मैकाले की शैक्षिक पाठ्यचर्या को क्रियान्वित करने वाले सरकारी स्कूलों, कालेजों से शिक्षा पाकर निकले नौजवान तो राष्ट्रवादी बने और अंग्रेज सरकार को उखाड़ फेंकने में जी-जान से जुटे जबकि मिशनरी शिक्षा की परिणति इस रूप में नहीं हुई । ♦